जैन शिक्षा पद्धति

□ **श्रीमती सुनीता जैन,** एम० ए०, एम० एड०, वाराणसी
[**शिक्षा संकाय—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय**]
□

पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि भारत में प्राचीनकाल से ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं का समानान्तर विकास होता रहा है।

तीर्थंकर वृषभ श्रमण परम्परा के आदि अनुशास्ता रहे हैं। यह तीर्थंकर परम्परा वृषभ या ऋषभ से लेकर ईसा पूर्व छठी शती में वर्द्धमान महावीर के उदय तक अविच्छिन्न रूप से चली आयी। गौतम बुद्ध द्वारा बौद्धधर्म की स्थापना के साथ श्रमण परम्परा में एक नयी इकाई जुड़ी जिसे सम्राट अशोक ने देश-देशान्तरों में प्रसारित किया। तीर्थंकर परम्परा जैनधारा के रूप में स्थापित हुई।

पिछले सौ वर्षों में भारतीय विद्याओं के उच्चानुशीलन की दिशा में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों द्वारा जो प्रयत्न हुए हैं उसमें ब्राह्मण या वैदिक तथा बौद्ध परम्परा की अनुपम उपलब्धियाँ सामने आयीं हैं किन्तु श्रमण या जैन परम्परा का अनुशीलन इस दृष्टि से लगभग सर्वथा अछूता है। प्राचीन भारतीय विचारधाराओं की इस महनीय परम्परा ने भारत-मनीषा को सम्पूर्ण रूप से व्याप्त किया है। जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे सहस्रों ग्रन्थ एवं उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में व्याप्त शिल्प और कला निर्मितियाँ इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जैन चिन्तकों ने ज्ञान-विज्ञान के हर पक्ष पर अपनी एक विशेष दृष्टि दी है।

शिक्षा के क्षेत्र में जैन चिन्तकों ने जिस पद्धति का विकास किया वह बेजोड़ है। मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास का उद्देश्य सामने रखकर जैन गुरुओं ने विभिन्न बौद्धिक स्तरों को ध्यान में रख कर शिक्षाविधियों का क्रम निर्धारण किया। लोकभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में अतिशय सफलताएँ उपलब्ध हुईं। जीवन की चरम उपलब्धि 'निश्रेयस्' या मोक्ष को शिक्षा का केन्द्रबिन्दु मान कर जीव और जगत सम्पूर्ण ज्ञेयतत्त्व को शिक्षा का विषय बनाया। जड़ (मैटर) और चेतन (इनरजी) के समग्र अध्ययन का आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के रूप में वर्गीकरण तथा लौकिक शिक्षा का चौसठ या बहत्तर कलाओं के रूप में अध्ययन शिक्षा के उत्तर-कालीन चरण हैं।

जैन शिक्षा पद्धति सम्पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि उसमें **इन्स्ट्रक्सन** की सहज सम्प्रेषणीयता है। गुरु, शिष्य और अभिभावक के उदात्त सम्बन्धों के कारण न वहाँ शिक्षा व्यवस्था की समस्याएँ हैं न अनुशासन-प्रशासन की। सम्यक्दृष्टि के स्फुरण के साथ सम्यग्ज्ञान की पूर्णता उसके प्रायोगिक ज्ञान सम्यक्चारित्र में निहित है। ऐसा ज्ञान ही 'निश्रेयस्' को उपलब्ध कराता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनको देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उनका मुख्य आधार वैदिक वाङ्मय ही रहा है। डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर 'एजुकेशन इन एन्शिएण्ट इण्डिया' शीर्षक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी किन्तु उसमें जैन वाङ्मय की सन्दर्भ सामग्री का उपयोग नहीं हुआ। डा० राधाकुमुद मुकर्जी की 'एन्शिएण्ट इण्डियन एजुकेशन' में भी जैन स्रोतों का उपयोग नहीं हो पाया। प्राचीन भारतीय शिक्षा पर जो अन्य पुस्तकें लिखी गयीं उनमें भी जैन स्रोतों का उपयोग नहीं किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डा० एच० डी० सांकलिया ने बौद्ध साहित्य के आधार पर 'बुद्धिस्ट एजुकेशन' लिखी। बी० सी० ला आदि ने भी अपनी पुस्तकों में इस विषय को लिया है।

सन् १९७० में पाली इन्स्टीट्यूट नालन्दा में त्रिपिटक के आधार पर 'बौद्ध शिक्षा विषय' पर डा० नन्दकिशोर उपाध्याय ने एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

कुछ विद्वानों का ध्यान जैन वाङ्मय की ओर भी आकृष्ट हुआ। डाक्टर डी० सी० दासगुप्ता ने 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में दस व्याख्यान दिये जो १९४२ में 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' के नाम से प्रकाशित हुए। इसमें प्राचीन जैन आगमों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारतीय शिक्षा पद्धति का विवेचन किया गया है।

डाक्टर एच० आर० कापड़िया का एक विस्तृत निबन्ध 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' बम्बई विश्वविद्यालय के जर्नल में प्रकाशित हुआ। इसमें जैन वाङ्मय के आधार पर प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का विश्लेषण किया गया है। डाक्टर एन० ए० देशपाण्डे का शोध प्रबन्ध 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' बम्बई विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत हुआ। सन् १९७४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में मैंने अपना लघु शोध-प्रबन्ध 'जैन शिक्षा पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन' शीर्षक प्रस्तुत किया था। १९७६ में पटना विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में पी एच० डी० उपाधि के लिए श्री निशानन्द शर्मा का 'जैन वाङ्मय में शिक्षा तत्त्व' शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ था जिस पर उन्हें उक्त उपाधि भी प्राप्त हुई। जैन वाङ्मय पर लिखे गये कुछ अन्य प्रबन्धों में भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध प्राचीन भारतीय शिक्षा सम्बन्धी सामग्री का उपयोग किया गया है। इस दृष्टि से निम्न-लिखित ग्रन्थ दृष्टव्य हैं :

(१) डा० जगदीशचन्द्र जैन : 'सोशल लाइफ इन ऐन्शियेण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनोनिकल लिटरेचर', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई–१९।
(२) डा० गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६७।
(३) डा० जे० सी० सिकदर : स्टडीज इन पउमचरियम्, इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत जैनोलाजी एण्ड अहिंसा, वैशाली १९७३।
(४) डा० श्रीमती मधु सेन : ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
(५) डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।
(६) डा० प्रेमचन्द जैन 'सुमन' : कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

कतिपय निबन्ध भी जैन शिक्षा पर विभिन्न सेमिनारों में पढ़े गये। १९७३ के अक्टूबर में उदयपुर विश्वविद्यालय में आयोजित सेमिनार में जैन शिक्षा पर भी दो निबन्ध पढ़े गये—डा० हरीन्द्रभूषण जैन : जैन एजुकेशन इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, प्रो० सी० एम० कर्णावत : एजुकेशन इन जैनिज्म।

सन् १९७४ में जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा दिल्ली में आयोजित सेमिनार में मैंने "जैन शिक्षा पद्धति" शीर्षक निबन्ध पढ़ा। १९७५ में प्रो० निर्मलकुमार बोस प्रतिष्ठान, वाराणसी द्वारा आयोजित सेमिनार में मैंने "जैन शिक्षा : उद्देश्य और विधियाँ" शीर्षक निबन्ध पढ़ा।

जैन शिक्षा पर अनुसन्धान कार्य करने के पूर्व इस सम्पूर्ण सामग्री का अवलोकन आवश्यक है।

हमारी यह धारणा है तथा तथ्यों के आधार पर इस बात की पुष्टि भी होती है कि प्राचीन भारत में शिक्षा की जो पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उनमें दो पद्धतियाँ मुख्य थीं :

(१) वैदिक या ब्राह्मण शिक्षा पद्धति।
(२) श्रमण या जैन शिक्षा पद्धति।

इन दोनों शिक्षा पद्धतियों में कुछेक समानताएँ होते हुए भी मौलिक भेद थे जिनके कारण दोनों का स्वतन्त्र रूप से विकास होता रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा पद्धति का इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का अभी तक विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। ऊपर जो विवरण दिया गया है उसमें जैन स्रोतों का तो उपयोग हुआ है किन्तु वह अनेक दृष्टियों से अपूर्ण और कई दृष्टियों से भ्रामक भी है। अपूर्ण इस कारण से क्योंकि विपुल जैन वाङ्मय में से अत्यन्त सीमित ग्रन्थों के आधार पर ही ये अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। भ्रामक इसलिए कि नाम तो 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' दिया गया किन्तु सिस्टम के विश्लेषण का प्रयत्न नहीं किया गया प्रत्युत आधुनिक पाश्चात्य पद्धति के बँधे बँधाए सांचे में जैन वाङ्मय में उपलब्ध सामग्री को ढाल कर उसे जो जामा पहनाया गया है वह न तो जैन शिक्षा पद्धति है, न ही वैदिक या बौद्ध शिक्षा पद्धति। वास्तव में वह इन सबका मिला जुला घोल है। जैन शिक्षा पद्धति का प्राचीन काल से क्रमिक विकास हुआ है। प्रारम्भिक चरण में जब भारतीय चिन्तन निश्रेयस् या मोक्ष को केन्द्रबिन्दु मान कर चल रहा था उस समय जैन शिक्षा-पद्धति का जो स्वरूप था वह आगे चलकर देश और काल के अनुरूप विकसित हुआ।

तीर्थंकरों से गणधर तथा गणधरों से आचार्य परम्परा द्वारा शिक्षा की जो स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई उसे मन्दिर वास्तु का विकास होने के साथ-साथ नया स्वरूप मिला। भट्टारक व यती परम्परा तक पहुँचते-पहुँचते इसका स्वरूप और अधिक बदल चुका था।

प्राचीन भारत में शिक्षा

जैन शिक्षा पद्धति का जो स्वरूप साहित्य में उपलब्ध होता है उसका विश्लेषण करने के पूर्व संक्षेप में वैदिक शिक्षा पद्धति को जान लेना आवश्यक है जिससे दोनों पद्धतियों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझा जा सके। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशन इन एन्शियेण्ट इण्डिया' में लिखा है—"भारत में शिक्षा तथा विज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नहीं हुई, अपितु वे 'धर्म' के मार्ग पर चल कर मोक्ष प्राप्त करने का एक क्रमिक प्रयास माने गये। मोक्ष ही जीवन का चरम विकास था। यही कारण है कि जीवन की सम्पूर्ण बहुमुखी क्रियाएँ धर्म के मार्ग पर चल कर ही अपने एकमात्र गन्तव्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर हुई।"

यह कथन सभी प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धतियों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है, किन्तु शिक्षा की जो पद्धतियाँ थीं, उनमें विभिन्नता थी। वैदिक काल में शिक्षा का केन्द्रबिन्दु ऋषियों के आश्रम थे। वे आवासीय विद्यालय और विश्वविद्यालयों की तरह थे। आश्रम ग्राम और नगरों से दूर अरण्य में होते थे। आवास और अध्ययन की सम्पूर्ण व्यवस्था वहाँ हो जाती थी। आवास और भोजन समस्या न थी। अरण्य ही जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ पूरी कर देते थे। पर्णकुटी उनके छात्रावास थे, नीवार, धान्य, कन्दमूल, फल, पुष्प और पत्र भोजन के मुख्य अंग थे। शिक्षार्थी वहाँ जाकर रहता था और ऋषियों से शिक्षा प्राप्त करता था। ऋषि ही उस समग्र शिष्य कुल के कुलगुरु एवं कुलपति भी होते थे, उनका संकेत ही निर्देश था।[1]

ऋषि द्रष्टा होते थे। वे आत्मसाक्षात्कार करते थे, अध्ययन नहीं। ऋषि प्रयोक्ता था, अध्येता नहीं।

शिक्षा का माध्यम उपदेश था। गुरु उपदेष्टा था, वह मात्र अध्यापक नहीं था। शिक्षा का विषय सम्पूर्ण जीव और जगत था। उपदेश को श्रोत्र (कान) के माध्यम से स्मृति पट पर अंकित कर लिया जाता था इसलिए वे ज्ञानकोश श्रुति थे, पुस्तक नहीं थे।

जिज्ञासु व्यक्ति विद्यार्थी था। कभी जिज्ञासाएँ उपदेश का क्रम बनतीं, कभी ऋषि का आत्म-साक्षात्कार।

जिज्ञासा एक जगह तृप्त न होती तो विद्यार्थी यायावर होकर निकल पड़ता और ऋषियों के ठौर-ठौर जाकर उनसे अपनी जिज्ञासाओं के समाधान माँगता। वेद में एक सूत्र है **"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।"**

जीव और जगत की जिज्ञासाएँ लेकर छात्र अनेक ऋषियों के पास गया। उनके समाधान सुने। लौटने पर किसी ने पूछ लिया—क्या समझे? तो उसके ओठों पर ये शब्द फूट पड़े—**"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"।**

जैन शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ

जैन शिक्षा पद्धति वैदिक शिक्षा पद्धति से कई बातों में भिन्न है। यद्यपि दोनों का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है किन्तु उस उद्देश्य को प्राप्त करने के विषय में जो पूर्वकालीन सोपान रहे हैं, वे भिन्न हैं।

जैनधर्म में देव, शास्त्र और गुरु का समान महत्त्व है। पाँच परमेष्ठियों में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की गणना की जाती है। अरिहन्त और सिद्ध को परमगुरु माना गया है क्योंकि वे सर्वज्ञ, सर्वदेशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सम्पूर्ण दोषों से रहित होते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु-गुरुओं के क्रम से तीन स्तर हैं। उपाध्याय का कार्य मुख्य रूप से शिक्षा का बताया गया है। ये तीनों ही गुरु जैनधर्म में साधु का आचार पालन करने वाले बताये गये हैं।[२]

जैन साधु संस्था में आचार्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मुनि संघ का प्रमुख आचार्य ही होता था। पूरा संघ उसके निर्देशों पर चलता था। जैन साधु के आचार के विषयों के अन्तर्गत बताया गया है कि जैन साधु एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता प्रत्युत विभिन्न नगर, ग्रामों में पदयात्रा करता हुआ तत्त्वोपदेश देता है तथा अपनी साधना करता है, वर्षाकाल के चार माह एक जगह स्थिर होकर रहता है।[३]

आचरण के इस नियम के कारण जैनशिक्षा के वैसे केन्द्र नहीं बने जिस प्रकार के वैदिक ऋषियों के आश्रम होते थे। इसके विपरीत जहाँ साधु संस्था का चातुर्मास होता था वे अस्थायी रूप से शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। जैन साधु वर्षा के चार महीनों में एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, इसे वर्षावास कहा जाता है। कुछ केन्द्र ऐसे भी थे जहाँ साधु संस्था के कतिपय मुनि बराबर विद्यमान रहते थे। ऐसे केन्द्रों में पाटलीपुत्र, मथुरा, श्रावस्ती, वल्लभी, गिरिनगर, श्रवणबेलगोल, खण्डगिरि, उदयगिरि, शीतन्नवासल, राजगृह, एलोरा आदि प्रमुख केन्द्र थे।[४]

मन्दिर वास्तु का विकास होने के बाद जैन अध्ययन केन्द्रों का विस्तार होता गया।[५] प्रत्येक मन्दिर के साथ शास्त्र भण्डार और स्वाध्यायशाला तथा गुरु के आवास के लिए कक्ष की व्यवस्था हुआ करती थी।

श्रावक गृहस्थ के दैनिक छः कर्तव्य बताये गये हैं :

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायसंयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने-दिनेः ॥

इन छह दैनिक कर्तव्यों में गुरु की उपासना और स्वाध्याय की भी गणना की गयी है। देव की पूजा के बाद गुरु की उपासना का विधान है। गुरु की उपासना के साथ ही स्वाध्याय का उल्लेख किया गया है।[६]

स्वाध्याय के पाँच भेद हैं जिन्हें जैन शिक्षा की विभिन्न विधियाँ मानना चाहिए। (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय, (५) धर्मोपदेश।[७]

आचार्य और अध्येता की दृष्टि से भी जैन शिक्षा पद्धति में भिन्नता थी। जैन आचार्य शिष्य से किसी प्रकार की अपेक्षा या आकांक्षा नहीं रखता था। न शिष्य उनके ऊपर अपनी अन्य सभी जिम्मेदारियाँ छोड़ सकता था। जब कि वैदिक शिक्षा पद्धति में शिष्य गुरु के यज्ञ पूजा इत्यादि के लिए सामग्री और समिधाएँ आदि जुटाता था तथा उन्हीं के आश्रम में रहता था एवं आश्रम में उपलब्ध समस्त सुविधाओं का उपयोग करता था। शिक्षा समाप्ति के बाद गुरु को दक्षिणा भी दी जाती थी किन्तु जैन आचार्य इस प्रकार कोई भी दक्षिणा नहीं लेते थे।

जैन दृष्टि से ज्ञान पाँच प्रकार का बताया गया है[८]—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यय ज्ञान, (५) केवलज्ञान। केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। जिसके ज्ञान का सम्पूर्ण विकास हो जाता है वह केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। सामान्य व्यक्ति का विकास मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से आरम्भ होता है। इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाता है। सामान्य रूप से मतिज्ञान को हम प्रतिभा या योग्यता कह सकते हैं। इसी के आधार पर व्यक्ति के (I. Q.) का पता चलता है और उसके आधार पर उसके श्रुतज्ञान का विकास होता है। इन ज्ञानों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

शिक्षा के माध्यम के विषय में वैदिक और जैन शिक्षा पद्धति लगभग समान रही है। जिस प्रकार वैदिक शिक्षा पद्धति में शिक्षा का माध्यम उपदेश था उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति भी उपदेशमूलक थी।

शिक्षा के विषय भी लगभग समान ही रहे हैं अर्थात् जिस प्रकार वैदिक युग में सम्पूर्ण जीव और जगत के विषय में जानकारी देना शिक्षा का उद्देश्य रहा उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति में भी। दोनों में अन्तर यह है कि वैदिक गुरु इहलौकिक जीवन के लिए जिस प्रकार से प्रवृत्तिमूलक शिक्षा देता था उस प्रकार की जैन आचार्य नहीं। प्रत्युत वह निवृत्ति-लक्षी प्रवृत्ति का उपदेश देता था।[९]

शिक्षण विधि के विषय में कई बातों में समानता प्राप्त होती है। चूँकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी इसलिए उसे याद रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। बात को चुने हुए शब्दों में सूत्र रूप में कहा जाता था जिससे शिष्य उसे ज्यों का त्यों स्मरण रख सकें। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी विधि यह थी कि शिक्षणीय विषय को गेय रूप में प्रस्तुत किया जाये जिससे उसे कण्ठस्थ किया जा सके। तीसरी विधि के अनुसार विषय को कथाओं के माध्यम से कहा जाता था जिससे उन कथा प्रसंगों के साथ मूल वस्तुतत्त्व को याद रखा जा सके।

इसी प्रकार लौकिक दृष्टान्तों या विभिन्न जीवन के प्रसंगों के साथ तुलना करके वस्तुतत्त्वों का प्रतिपादन किया जाता था। इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ जैसे सूत्र की व्याख्या की गयी जिसे वार्तिक कहा गया। वार्तिक के बाद टीका और वृत्ति लिखी गयी। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, नामक विशेष विवरण तैयार किये गये।

जैन शिक्षा : उद्देश्य और विधियाँ

जैन दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास माना गया है। समग्र विकास से अभिप्राय उसके अन्तरंग एवं बाह्य सभी गुणों का विकास है। व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को ही जैनदर्शन में मोक्ष कहा गया है।[१०] मोक्ष की अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व में दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख पूर्णरूप से विकास को प्राप्त हो जाते हैं। और उनमें किसी भी कारण कमी होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए उसे 'सिद्ध' कहा गया है। इससे पूर्व की स्थिति अरिहन्त की मानी गई है। अरिहन्त के भी दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख का समग्र विकास हो चुकता है। कुछ औपाधिक प्रवृत्तियाँ सम्बद्ध रहने के कारण वे 'सिद्ध' नहीं माने जाते। किन्तु उनका सिद्ध होना निश्चित रहता है।

व्यक्तित्व के समग्र के विकास के लिए तीन कारण बताये गये हैं।[११]

(१) सम्यग्दर्शन।
(२) सम्यग्ज्ञान।
(३) सम्यक्चारित्र।

ये तीनों मिलकर ही व्यक्तित्व विकास के साधक है, पृथक्-पृथक् नहीं। इसलिए इन तीनों को मार्ग कहा गया है।

शिक्षा विधियाँ

शिक्षा के इस महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जैन वाङ्मय में शिक्षा विषय, शिक्षाविधि, शिक्षा के माध्यम, गुरु एवं शिष्य का स्वरूप और शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षाकेन्द्रों के बारे में अत्यन्त व्यवस्थित और विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यहाँ पर केवल शिक्षा विधि के बारे में ही मैं कुछ कहूँगी।

शिक्षा के सम्पूर्ण विषय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। इन तीनों को सम्मिलित रूप से मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जो तत्त्व जिस रूप में अवस्थित है, उसका ठीक उसी रूप में बोध होना, उनका प्रामाणिक रूप से सविवरण ज्ञान होना तथा व्यावहारिक रूप में उन्हें जीवन में उतारना, यह इनका तात्पर्यार्थ है। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने दो विधियाँ बतायी हैं।[१२]

(१) निसर्ग विधि।
(२) अधिगम विधि।

निसर्गविधि[१३]—निसर्ग का अर्थ है स्वभाव। स्वयंप्रज्ञ व्यक्ति को गुरु और आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। जीवन के विकास क्रम से वे स्वतः ही ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों को सीखते जाते हैं। तत्त्वों का सम्यक् बोध वे स्वतः प्राप्त करते जाते हैं। उनका जीवन ही उनकी प्रयोगशाला होता है। सम्यक्बोध और सम्यक्ज्ञान की उपलब्धियों को वे जीवन की प्रयोगशाला में उतारकर सम्यक्चारित्र को उपलब्ध करते हैं। यह निसर्ग विधि है।

अधिगमविधि[१४]—अधिगम का अर्थ है पदार्थ का ज्ञान। दूसरों के उपदेशपूर्वक पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अधिगमज कहलाता है।

इस विधि के द्वारा प्रतिभावान तथा अल्पप्रतिभायुक्त सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। यही तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण बनता है।

निसर्गविधि में प्रज्ञावान व्यक्ति की प्रज्ञा का स्फुरण स्वतः होता है किन्तु अधिगम विधि में गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु के उपदेश से जीवन और जगत के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना यही अधिगम विधि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिगम के निम्नलिखित भेद हैं :

निक्षेपविधि[15]—लोक में या शास्त्र में जितना शब्द व्यवहार होता है, वह कहाँ किस अपेक्षा से किया जा रहा है, इसका ज्ञान निक्षेपविधि के द्वारा होता है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों का निर्धारण और ज्ञान निक्षेपविधि द्वारा किया जाता है। अनिश्चय की स्थिति से निकालकर निश्चय में पहुँचाना निक्षेप है।

निक्षेपविधि के चार भेद हैं—

(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) भाव।

(१) **नामनिक्षेप**[16]—व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेत मात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेपविधि के अन्तर्गत आता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम हाथीसिंह रख दिया। नामनिक्षेप विधि ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है।

(२) **स्थापनानिक्षेप**—वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा उसका आकार बिना बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके उस मूल वस्तु का ज्ञान कराना स्थापनानिक्षेपविधि है। इसके दो भेद हैं[17]—

(क) सद्भावस्थापना (ख) असद्भावस्थापना।

(क) सद्भावस्थापना का अर्थ है मूल वस्तु या व्यक्ति की ठीक-ठीक प्रतिकृति बनाना। यह प्रतिकृति काष्ठ, मृत्तिका, पाषाण, दाँत, सींग आदि की बनाई जा सकती है। इस प्रकार की प्रतिकृति बनाकर जो ज्ञान कराया जाता है वह सद्भावस्थापनाविधि है।

(ख) असद्भावस्थापना में वस्तु की यथार्थ प्रतिकृति नहीं बनायी जाती प्रत्युत किसी भी आकार की वस्तु में मूल वस्तु की स्थापना कर दी जाती है। जैसे शतरंज के मोहरों में राजा, वजीर, प्यादे, हाथी आदि की स्थापना कर ली जाती है।

षट्खण्डागम, धवला तथा श्लोकवार्त्तिक आदि में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

(३) **द्रव्यनिक्षेप**[18]—वर्तमान से पूर्व अर्थात् भूत एवं बाद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना द्रव्यनिक्षेपविधि है। इस विधि के भी आगम और नोआगम दो भेद हैं। नोआगम के भी तीन भेद हैं।

(४) **भावनिक्षेप**[19]—वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराना भावनिक्षेपविधि है। इनके भी आगम और नोआगम ऐसे दो भेद हैं।

प्रमाणविधि[20]—संशय आदि से रहित वस्तु का पूर्णरूप से ज्ञान कराना प्रमाणविधि है।

जैन आचार्यों ने प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है। जीव और जगत का पूर्ण एवं प्रामाणिक ज्ञान इस विधि के द्वारा प्राप्त किया है।

सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के अन्तर्गत माना है। मिथ्याज्ञान प्रमाणाभास हो सकते हैं, प्रमाण नहीं।

प्रमाण विधि के दो भेद हैं।

(क) प्रत्यक्ष (ख) परोक्ष

प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(१) सांव्यवहारिक या इन्द्रियप्रत्यक्ष।
(२) पारमार्थिक या सकलप्रत्यक्ष।

परोक्ष के निम्नलिखित पाँच भेद हैं—

(१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम।

जैन आचार्यों ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।[21]

नयविधि—इस विधि के द्वारा वस्तुस्वरूप का आंशिक विश्लेषण करके ज्ञान कराया जाता है। नय के मूलतः दो भेद हैं।

(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों के भी निम्नलिखित सात भेद हैं—

(१) **नैगम**—अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करना।

(२) **संग्रह**—भेदसहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करना। जैसे घट कहने से सभी प्रकार के घटों का ग्रहण हो जाता है।[२२]

(३) **व्यवहार**—संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण या भेद करना। जैसे घट के स्वर्णघट, रजतघट, मृत्तिकाघट आदि भेद।[२३]

(४) **ऋजुसूत्र**—वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करना।[२४]

(५) **शब्दनय**—शब्द प्रयोगों में आने वाले दोषों को दूर करके तदनुसार अर्थभेद की कल्पना करना।[२५]

(६) **समभिरूढ**—शब्दभेद के अनुसार अर्थ भेद की कल्पना करना।[२६]

(७) **एवंभूत**—शब्द के फलित होने वाले अर्थ के घटित होने पर ही उसको उस रूप में मानना।[२७]

अनुयोगद्वारविधि[२८]—तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुयोगद्वार विधि बतायी गयी है। इसके निम्नलिखित छः भेद हैं—

(१) **निर्देश**—वस्तु के नाम का कथन करना।

(२) **स्वामित्व**—वस्तु के स्वामी का कथन करना।

(३) **साधन**—जिन साधनों से वस्तु बनी है, उसका कथन करना।

(४) **अधिकरण**—वस्तु के आधार का कथन करना।

(५) **स्थिति**—वस्तु के काल का कथन करना।

(६) **विधान**—वस्तु के भेदों का कथन करना।

प्ररूपणाविधि[२९]—प्ररूपणा के निम्नलिखित आठ भेद हैं :—

(१) **सत्**—अस्तित्व कथन करके समझाना।

(२) **संख्या**—भेदों की गणना करके समझाना।

(३) **क्षेत्र**—वर्तमान काल विषयक निवास को ध्यान में रख कर समझाना।

(४) **स्पर्शन**—त्रिकाल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।

(५) **काल**—समयावधि को ध्यान में रखकर समझाना।

(६) **अन्तर**—समय के अन्तर को ध्यान में रखकर समझाना।

(७) **भाव**—भावों का कथन करके समझाना।

(८) **अल्पबहुत्व**—एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करके समझाना।

स्वाध्यायविधि[३०]—विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्यायविधि का उपयोग किया जाता था। इसके निम्नलिखित पाँच भेद बताये गये हैं—

(१) **वाचना**—ग्रन्थ, अर्थ या दोनों का निर्दोष रीति से पाठ करना वाचना है।

(२) **पृच्छना**—शंका को दूर करने के लिये या विशेष निर्णय करने के लिये पृच्छा करना पृच्छना है।

(३) **अनुप्रेक्षा**—पढ़े हुए पाठ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उसका पुनः पुनः मन से विचार करते रहना अनुप्रेक्षा है।

(४) **आम्नाय**—जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय है।

(५) **धर्मोपदेश**—धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।

स्वाध्यायविधि का उपयोग प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये, परम संवेग के लिये, तप में वृद्धि करने के लिये तथा अविचारों में विशुद्धि लाने आदि के लिये किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि शिष्य उसे भली प्रकार हृदयंगम कर सके। इसके लिये विषयवस्तु को सूत्ररूप में कहा जाता था क्योंकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

कभी-कभी विषयवस्तु को गेयरूप में भी प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसे कंठस्थ किया जा सके। कथाओं के माध्यम से भी विषयवस्तु को कहा जाता था जिससे उन कथा-प्रसंगों के साथ मूल वस्तुत्त्व को याद रखा जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा विधि की एक विशेषता यह भी रही है कि जैन आचार्यों ने मुख्यरूप से सदा लोकभाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर उनमें ग्रन्थों की रचना की। इन भाषाओं को जनसामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार इनके अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुई और राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी, आदि के रूप में विकसित हुईं।

संस्कृत को भी जैन शिक्षकों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया तथा संस्कृतभाषा में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की।

इस प्रकार जैन शिक्षा पद्धति का अनुशीलन करने पर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(१) प्राचीन भारत में ब्राह्मण और श्रमण शिक्षा पद्धतियों का समानान्तर रूप में विकास हुआ।

(२) उक्त पद्धतियों में कतिपय समानताएँ होते हुए भी दोनों में अनेक मौलिक अन्तर थे।

(३) ब्राह्मण शिक्षा पद्धति के वैदिक युग में शिक्षा का चरम लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति था किन्तु श्रमण-पद्धति में शिक्षा का चरम उद्देश्य मोक्षप्राप्ति था।

(४) उपनिषद्काल में ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में भी मोक्षप्राप्ति को चरम लक्ष्य मान लिया गया।

(५) ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में शिक्षा प्रवृत्तिमूलक थी जबकि श्रमण शिक्षा निवृत्तिमूलक।

(६) ब्राह्मण शिक्षा में शिक्षा के केन्द्रबिन्दु ऋषि थे। उनके आश्रम ही शिक्षा के केन्द्र थे। श्रमण-पद्धति में श्रमण या साधु शिक्षा के केन्द्र अवश्य थे किन्तु आचार-विषयक नियमों के कारण वे एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह सकते थे इसलिए वे एक चलते-फिरते शिक्षायतन थे किन्तु आश्रम नहीं थे।

(७) ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में गौतम बुद्ध ने बौद्धधर्म की स्थापना की। उसके फलस्वरूप बौद्ध शिक्षा पद्धति का विकास हुआ।

(८) श्रमण पद्धति में उत्तरकाल में गुहागृह, तीर्थक्षेत्र, चैत्यालय, जिनालय, निषधि, मठ, विहार, स्वाध्याय शाला, विद्यामंडप आदि संस्थाओं का विकास हुआ और ये जैन शिक्षा के केन्द्र बने।

(९) जैन शिक्षा मूलतः मोक्षमूलक थी किन्तु उसका उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास था। इसलिए शिक्षा के विषयों में जीव और जगत् को केन्द्र बना कर सम्पूर्ण प्राणि-विज्ञान तथा जड़ जगत के सम्पूर्ण विषयों को समाहित किया गया।

(१०) जैन शिक्षा पद्धति में पाँच परमेष्ठी गुरु माने गये हैं, इनमें उपाध्याय को शिक्षा का अधिष्ठाता माना गया है।

(११) जैन साधु-शिक्षक स्वयं अनगार होने के कारण वैदिक ऋषियों की तरह शिष्य के आवास आदि व्यवस्था का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता था। इसी प्रकार शिक्षा समाप्ति के बाद शिष्य से दक्षिणा आदि भी नहीं लेता था।

(१२) शिक्षा विधि और शिक्षा के माध्यमों में भी जैन शिक्षा पद्धति की अपनी विशेषताएँ थीं। शिक्षा विधि के अन्तर्गत मूलतः प्रमाण, नय और निक्षेप ये तीन विधियाँ थीं। इनकी अवान्तर पद्धतियाँ अनेक थीं।

(१३) जैन आचार्यों ने मुख्य रूप से सदा लोकभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर उनमें ग्रन्थों की रचना की। इन भाषाओं को जन सामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार इनके अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुई और राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी आदि के रूप में विकसित हुईं।

(१४) संस्कृत को भी जैन शिक्षकों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया तथा संस्कृत में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की।

(१५) जैन आचार्यों ने शिक्षा मनोविज्ञान का सूक्ष्म विवेचन किया है।

जैन शिक्षा पद्धति पर प्रस्तुत निबन्ध तैयार करते समय जो तथ्य सामने आये उनके आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस विषय में अनुसंधान कार्य की व्यापक सम्भावनाएँ तथा विस्तृत क्षेत्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ डॉक्टर अ० स० अल्तेकर : एजुकेशन इन एंशियेंट इण्डिया ।
२ द्रष्टव्य—वट्टकेर : 'मूलाचार' (माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७, १९८०) ।
३ शिवार्य : 'भगवती आराधना' (अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९८९) ।
आशाधर : अनगार धर्मामृत (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१९) ।
४ पी० बी० देसाई : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापूर, १९५२) ।
सी० जे० शाह : जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, लन्दन, १९३२ ।
५ डॉ० कैलाशचन्द्र जैन : जैनिज्म इन राजस्थान ।
६ आशाधर : सागार धर्मामृत (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई) ।
७ उमास्वामि : 'तत्त्वार्थ-सूत्र'—सम्पादक पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, (श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी) ।
८ पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, सम्पादक पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी) ।
९ पं० सुखलाल संघवी : 'दर्शन और चिन्तन' (पं० सुखलाल जी सम्मान समिति, अहमदाबाद, १९५७) ।
१० बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —तत्त्वार्थ सूत्र १०/२
११ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । —तत्त्वार्थ सूत्र १/१
१२ तन्निसर्गादधिगमाद्वा । —तत्त्वार्थ सूत्र १/३
१३ निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः । यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् । —सर्वार्थसिद्धि १/३
१४ अधिगमोऽर्थावबोधः । यत्परोपदेशपूर्वकं जीवा अधिगमनिमित्तं तदुत्तरम् । —सर्वार्थसिद्धि १/३
१५ संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितेश्योऽपसार्यनिश्चये क्षिपतीति निक्षेपः । —धवला भाग ४/१३, १/२/६
१६ अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम । —सर्वार्थसिद्धि १/४
१७ सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः । —श्लोकवार्त्तिक २/१/५
१८ सद्भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामदाधनं ।
सद् द्रव्यमित्युच्यते अथवा अद्भावं वा द्रव्यमित्युच्यते । —तत्त्वार्थवार्त्तिक १/५
—सर्वार्थसिद्धि १/५
१९ वर्तमान तत्त्वार्थोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।
२० प्रकर्षेण मानं प्रमाणम् सकलादेशीत्यर्थः । —धवला भाग ९/४१ ४५/१६६-१
द्रष्टव्य—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणानयतत्त्वालोकालंकार, प्रमाणमीमांसा आदि ।
२२ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः ।
२३ संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।
२४ ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तंत्रयतीति ऋजुसूत्रः ।
२५ लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः ।
२६ नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः ।
२७ येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसायमतीति एवम्भूतः । —सर्वार्थसिद्धि १/७
२८ निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्वम् । साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् ।
करणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । विधानं प्रकारः । —सर्वार्थसिद्धि १/७
२९ सदित्यस्तित्वनिर्देशः । संख्या भेद गणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च । अन्तरं विरहकालः । भावः औपशमिकादिलक्षणः । अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेष प्रतिपत्तिः । —सर्वार्थसिद्धि १/८
३० वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । —तत्त्वार्थ सूत्र ९/२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org